[2008] 1 एस.सी.आर. 44

अतुल सिंह और अन्य

बनाम

सुनील कुमार सिंह और अन्य

(2008 की दीवानी अपील सं. 10)

4 जनवरी, 2008

[जी. पी. माथुर और आफताब आलम, न्यायमूर्ति गण]

मध्यस्थता और सुलह अधिनियम, 1996 - धारा 7 और 8 - धारा 8 का अनुप्रयोग - साझेदारी विलेख को शून्य और अवैध घोषित करने और अन्य अनुतोष के लिए वाद - उच्च न्यायालय द्वारा मध्यस्थ को विवाद का संदर्भ - स्थिरता - निर्णय: तथ्यों के आधार पर, यह दर्शाने के लिए कोई दस्तावेज नहीं है कि वादी या उसके पूर्वज साझेदारी विलेख के पक्षकार हैं जो मध्यस्थ को विवाद के संदर्भ का प्रावधान करते हैं, इस प्रकार धारा 8 उक्त साझेदारी विलेख से संबंधित किसी भी विवाद पर लागू नहीं होती - केवल व्यवहार न्यायालय ही वाद में घोषणा के लिए राहत दे सकता है, मध्यस्थ नहीं - इसके अलावा, विवाद को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करने के लिए आवेदन मूल मध्यस्थता समझौते या विधिवत प्रमाणित प्रति के साथ नहीं हैं - इस प्रकार, मध्यस्थ को विवाद का संदर्भ संधारणीय नहीं है।

एक साझेदारी फर्म बनाई गई और 'आर' 21% हिस्सेदारी के साथ फर्म का भागीदार बन गया। इसके बाद, एक भागीदार की मृत्यु हो गई और उसकी विधवा को भागीदार के रूप में शामिल किया गया। 13.1.1989 को, नया साझेदारी विलेख निष्पादित किया गया जिसमें 'आर' 21% हिस्सेदारी के साथ भागीदार बना रहा। हालाँकि, 'आर' की मृत्यु 5.9.1992 को हो गई और वादी संख्या 2, 3, 5 और 7 को अपने उत्तराधिकारी के रूप में छोड़ गए। इसके बाद, अपीलकर्ता ने आरोप लगाया कि उत्तरदाताओं ने धोखे से 17.2.1992 की एक और साझेदारी विलेख निष्पादित की जिसमें 'आर' को भागीदारों में से एक के रूप में नहीं दिखाया गया था, हालाँकि उसने साझेदारी से सेवानिवृत्त होने के लिए कोई सहमति नहीं दी थी। वादी ने उत्तरदाताओं के खिलाफ यह घोषित करने के लिए मुकदमा दायर किया कि 17.2.1992 की साझेदारी विलेख अवैध, शून्य और अधिकार क्षेत्र से बाहर थी; और यह कि फर्म के 1.4.1992 से लेकर आज तक के खातों और साझेदारी ए के मुनाफे के हिस्से और अन्य

राहतों के विवरण के लिए एक डिक्री पारित की जाए। उत्तरदाता संख्या 2 को छोड़कर सभी उत्तरदाताओं के विरुद्ध एकपक्षीय कार्यवाही की गई। 5 वर्षों के बाद, उत्तरदाता संख्या 3, जो उत्तरदाता संख्या 2 का पुत्र है, के विरुद्ध एकपक्षीय आदेश को रद्द कर दिया गया। इसके बाद उत्तरदाता संख्या 3 ने मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 34 के तहत एक आवेदन दायर किया कि समझौते में मध्यस्थता खंड के मद्देनजर, मुकदमे की कार्यवाही रोक दी जाए और मामले को मध्यस्थता के लिए भेजा जाए। उन्होंने एक पूरक याचिका भी दायर की जिसमें तर्क दिया गया कि चूँकि यह वाद वर्ष 1998 का था, इसलिए उनकी पिछली याचिकाओं को मध्यस्थता और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 8 के अंतर्गत दायर माना जाए। अधीनस्थ न्यायालय ने यह कहते हुए याचिका खारिज कर दी कि चूँकि वादी का हित-पूर्ववर्ती 'आर', दिनांक 17.2.1992 के साझेदारी विलेख का पक्षकार नहीं था, और वाद में माँगी गई राहत उक्त साझेदारी विलेख को शून्य घोषित करने की थी, जिसका निर्णय केवल व्यवहार न्यायालय ही कर सकता था, इसलिए विवाद को मध्यस्थ के पास नहीं भेजा जा सकता था। उत्तरदाता संख्या 3 ने एक पुनरीक्षण याचिका दायर की। उच्च न्यायालय ने उसे स्वीकार कर लिया। अतः वर्तमान अपील।

अपीलकर्ता-वादी ने तर्क दिया कि मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, यह घोषणा करने की राहत कि दिनांक 17.2.1992 का साझेदारी विलेख अवैध या शून्य था और वादी 'आर' के उत्तराधिकारी होने के नाते उसके हिस्से की सीमा तक भागीदार बने हुए माने जाएंगे, केवल व्यवहार न्यायालय द्वारा दी जा सकती है, मध्यस्थ द्वारा नहीं; कि 'आर' या वादी दिनांक 17.2.1992 के विलेख के पक्षकार नहीं हैं, इसलिए 1996 के अधिनियम की धारा 8 लागू नहीं होती; कि 1.4.1992 के बाद के सभी लेन-देन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के संबंध में अन्य राहत पहली राहत पर निर्भर थी क्योंकि 'आर' या वादी को दिनांक 17.2.1992 के विलेख में फर्म के भागीदार के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था और जब तक उक्त दस्तावेज को शून्य घोषित नहीं किया जाता, वे दिनांक 13.1.1989 के पहले के विलेख के आधार पर किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकते थे; और यह कि 1996 अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (2) का अनुपालन नहीं किया गया था क्योंकि उत्तरदाता संख्या 3 द्वारा प्रस्तुत आवेदन के साथ मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति नहीं थी और इसलिए उसे अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए था।

उत्तरदाता-प्रतिवादियों ने तर्क दिया कि साझेदारी व्यवसाय में खातों और हिस्सेदारी के प्रतिपादन के लिए वादी का दावा 13.1.1989 की साझेदारी विलेख पर आधारित था, जिसमें

'आर' एक पक्ष था और उक्त विलेख में मध्यस्थता खंड शामिल है, और इस प्रकार, उच्च न्यायालय ने विवाद को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करना सही था।

अपील स्वीकार करते हुए न्यायालय द्वारा

अभिनिर्धारित: 1.1 मध्यस्थता और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 8 की उपधारा (1) में कहा गया है कि न्यायिक प्राधिकारी, जिसके समक्ष किसी ऐसे मामले में वाद लाया जाता है जो मध्यस्थता समझौते का विषय है, यदि कोई पक्ष विवाद के सार पर अपना पहला बयान प्रस्तुत करने के बाद ऐसा आवेदन करता है, तो पक्षों को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करेगा। इसलिए, धारा 8 के आवेदन के लिए, यह नितांत आवश्यक है कि पक्षों के बीच मध्यस्थता समझौता हो। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि न तो 'आर' और न ही वादी 17.2.1992 के साझेदारी विलेख के पक्षकार हैं। 1996 के अधिनियम की धारा 7 में परिभाषित ऐसा कोई दस्तावेज नहीं है जिसमें 'आर' या वादी के हस्ताक्षर हो सकते हैं। इसी प्रकार, 1996 अधिनियम की धारा 7 की उपधारा (4) के खंड (ख) या (ग) द्वारा परिकल्पित ऐसा कोई दस्तावेज़ नहीं है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि 'आर' या वादीगण दिनांक 17.2.1992 के साझेदारी विलेख में निहित मध्यस्थता से संबंधित खंड के पक्षकार थे। यह भी एक स्वीकृत तथ्य है कि उक्त साझेदारी विलेख के निष्पादन के समय 'आर' जीवित थे। इसलिए, 1996 अधिनियम की धारा 8, दिनांक 17.2.1992 के साझेदारी विलेख से संबंधित किसी भी विवाद पर लागू नहीं होगी और मामले को मध्यस्थता के लिए नहीं भेजा जा सकता। [कंडिका 8] [55-डी, ई, एफ, जी]

1.2 खातों के प्रत्यावर्तन और साझेदारी से प्राप्त लाभ में अपने हिस्से के साथ-साथ असुरक्षित ऋण पर ब्याज और खातों के प्रत्यावर्तन पर असुरक्षित ऋण की मूल राशि की राहत पाने के लिए, वादी ने निस्संदेह 13.1.1989 के साझेदारी विलेख का सहारा लिया। हालाँकि, 1989 के इस विलेख पर तभी भरोसा किया जा सकता था और यह वादी के दावे का आधार तभी बन सकता था जब 17.2.1992 के साझेदारी विलेख को शून्य घोषित कर दिया जाता। यदि 17.2.1992 का विलेख शून्य घोषित नहीं किया जाता और वैध एवं प्रभावी रहता, तो वादी खातों के प्रत्यावर्तन और लाभ में अपने हिस्से का दावा करने के लिए 13.1.1989 के पूर्ववर्ती साझेदारी विलेख का सहारा नहीं ले सकते थे। इसलिए, साझेदारी व्यवसाय से लाभ का अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिए, वादी-अपीलकर्ताओं के लिए यह अत्यंत आवश्यक था कि वे दिनांक 17.2.1992 के साझेदारी विलेख को अवैध, शून्य और निष्क्रिय घोषित करवाएँ। ऐसी घोषणा के लिए राहत केवल व्यवहार न्यायालय द्वारा ही दी जा

सकती थी, किसी मध्यस्थ द्वारा नहीं, क्योंकि वे या 'आर', जिनके माध्यम से वादी स्वामित्व प्राप्त करते हैं, उक्त विलेख के पक्षकार नहीं हैं। इसलिए, अधीनस्थ न्यायालय ने सही ही माना कि मामले को मध्यस्थता के लिए नहीं भेजा जा सकता और उच्च न्यायालय द्वारा इसके विपरीत लिया गया निर्णय स्पष्ट रूप से अवैध है। [कंडिका 9] [56-बी, सी, डी, ई]

1.3 1996 के अधिनियम की धारा 8 की उप-धारा (2) कहती है कि उप-धारा (1) में निर्दिष्ट आवेदन पर तब तक विचार नहीं किया जाएगा जब तक कि उसके साथ मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति न हो। उत्तरदाता संख्या 3 ने मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 34 के तहत स्वत्व वाद की कार्यवाही पर रोक लगाने और मामले को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करने के लिए एक आवेदन दायर किया था। उन्होंने उपरोक्त आवेदन पर एक पूरक याचिका दायर की। इसके बाद, उन्होंने एक आवेदन दायर कर प्रार्थना की कि चूंकि मध्यस्थता अधिनियम, 1940 निरस्त कर दिया गया है और मुकदमा 1998 का है, इसलिए किसी भी भ्रम से बचने के लिए, उनकी पिछली याचिकाओं को मध्यस्थता अधिनियम, 1996 की धारा 8 के तहत दायर माना जाए। इनमें से किसी भी याचिका के साथ 17.2.1992 का मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति नहीं थी। वास्तव में, मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 34 के तहत मूल मध्यस्थता समझौते या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति दाखिल करने की कोई आवश्यकता नहीं है और इसलिए उत्तरदाता संख्या 3 के लिए उपरोक्त दस्तावेज़ दाखिल करने का कोई कारण नहीं था। [कंडिका 10] [56-एफ, जी, एच; 57-ए, बी]

1.4 दिनांक 28.2.2005 की याचिका में इस बात का कोई ज़िक्र नहीं था कि आवेदन के साथ मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति दाखिल की जा रही है। उत्तरदाता ने दलील दी कि मामले के अभिलेख में साझेदारी विलेख की एक प्रति दर्ज है। अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (2) की आवश्यकता को पूरा करने के लिए, उत्तरदाता संख्या 3 को 28.2.2005 को दायर याचिका के साथ मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति दाखिल करनी चाहिए थी, जो उसने नहीं किया। इसलिए, 1996 के अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (2) का स्पष्ट रूप से उल्लंघन हुआ, जो एक अनिवार्य प्रावधान है और इस मुकदमे में विवाद को मध्यस्थता के लिए भेजने का कोई आदेश पारित नहीं किया जा सकता था। [कंडिका 10] [57-डी, ई, एफ]

खरदाह कंपनी लिमिटेड बनाम रेमन एंड कंपनी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, ***एआईआर 1962 एससी 1810 - संदर्भित।***

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार: 2008 की दीवानी अपील संख्या 10

सी.आर. संख्या 1010/2005 में पटना उच्च न्यायालय के अंतिम निर्णय/आदेश दिनांक 4.8.2005 से।

अपीलकर्ताओं के लिए रंजीत कुमार, बीनू टम्टा और कमल गुप्ता।

उत्तरदाताओं के लिए एस. बी. सान्याल, देवाशीष भारुका, अभिषेक सिन्हा और डॉ. सुशील बलवाड़ा।

न्यायालय का निर्णय **जी. पी. माथुर, न्यायमूर्ति** द्वारा दिया गया था

1. अनुमति प्रदान की गई।

2. यह अपील, विशेष अनुमति द्वारा, पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 4.8.2005 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध प्रस्तुत की गई है, जिसके द्वारा सुनील कुमार सिंह (मुकदमे में उत्तरदाता संख्या 3) द्वारा प्रस्तुत दीवानी पुनरीक्षण याचिका को स्वीकार कर लिया गया था और 17.3.2005 को अधीनस्थ न्यायालय द्वारा पारित आदेश, जिसमें मध्यस्थता और सुलह अधिनियम, 1996 (जिसे आगे '1996 अधिनियम' कहा जाएगा) की धारा 8 के तहत विवाद को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करने की उनकी प्रार्थना को खारिज कर दिया गया था, को रद्द कर दिया गया था।

3. उठाए गए विवाद को समझने के लिए, मामले के मूल तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक है। अपीलकर्ताओं ने अवर न्यायाधीश-I, पटना के न्यायालय में सुनील कुमार सिंह (उत्तरदाता संख्या 3) और 5 अन्य के विरुद्ध शीर्षक वाद संख्या 296/1998 दायर किया था, जिसमें यह घोषित करने का अनुरोध किया गया था कि पुनर्गठित साझेदारी विलेख दिनांक 17.2.1992 (1.4.1992 से प्रभावी) अवैध, शून्य और अधिकार क्षेत्र से बाहर है और श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह (जिनका 17.2.1992 के बाद निधन हो गया) की साझेदारी से सेवानिवृत्त होने की कोई मंशा या इच्छा नहीं थी। यह भी घोषित करने का अनुरोध किया गया था कि वादी, स्वर्गीय श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह के उत्तराधिकारी होने के नाते, अपने हिस्से की सीमा तक साझेदार बने रहेंगे। यह भी अनुरोध किया गया कि फर्म के 1.4.1992 से अब तक के खातों का विवरण देने हेतु एक डिक्री पारित की जाए और उत्तरदाताओं को निर्देश दिया जाए कि वे वादी को साझेदारी के लाभ में से उनका हिस्सा, साथ ही फर्म द्वारा दिए गए असुरक्षित ऋण का ब्याज और मूलधन भी अदा करें। उत्तरदाताओं को फर्म के धन का कुप्रबंधन और गबन करने से रोकने के लिए एक अंतरिम निषेधाज्ञा प्रदान करने के साथ-साथ मुकदमे के लंबित

रहने के दौरान फर्म के प्रबंधन हेतु एक रिसीवर की नियुक्ति की भी मांग की गई।

4. वादी का मामला, जैसा कि शिकायत में संक्षेप में बताया गया है, इस प्रकार है। मिस वीणा थिएटर्स प्राइवेट लिमिटेड के नाम और शैली में एक साझेदारी फर्म 25.12.1959 को साझेदारी के एक विलेख द्वारा स्थापित की गई थी और फर्म का व्यवसाय विभिन्न स्थानों पर फिल्म वितरकों के साथ चलचित्र अनुबंध करना और उन्हें मेसर्स वीणा थिएटर्स प्राइवेट लिमिटेड के स्वामित्व वाले चलचित्र हॉल में प्रदर्शित करवाना था। फर्म में पूंजी श्री शत्रुघ्न प्रसाद सिंह के परिवार के सदस्यों द्वारा निवेश की गई थी। श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह भी बाद में निवेश करके फर्म के भागीदार बन गए और 20.12.1972 को साझेदारी का एक विलेख निष्पादित किया गया। साझेदारी का पुनर्गठन 21.5.1976 को किया गया। जिसमें श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह का हिस्सा 21% था और बृज मोहन प्रसाद सिंह की मृत्यु पर, उनकी विधवा श्रीमती सोना देवी को भागीदार के रूप में शामिल किया गया और 13.1.1989 को एक नया विलेख निष्पादित किया गया जिसमें श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह 21% हिस्सेदारी के साथ भागीदार बने रहे। श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह का 5.9.1992 को निधन हो गया और उनके पीछे वादी संख्या 2, 3, 5 और 7, जो उनके पोते हैं, उनके उत्तराधिकारी के रूप में रह गए। श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह की पत्नी और दो पुत्र उनसे पहले ही मर चुके थे। वादी का मामला यह है कि उत्तरदाताओं ने 17.2.1992 को धोखे से एक और साझेदारी विलेख निष्पादित किया, जिसमें श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह को भागीदारों में से एक के रूप में नहीं दिखाया गया, हालाँकि उन्होंने न तो कोई सहमति दी थी और न ही साझेदारी से सेवानिवृत्त होने की इच्छा व्यक्त की थी। वादीगण ने उत्तरदाताओं से साझेदारी फर्म का लेखा-जोखा देने और उन्हें लाभ में हिस्सा देने का अनुरोध किया, लेकिन उत्तरदाताओं ने इस आधार पर ऐसा करने से इनकार कर दिया कि वे या उनके हित-पूर्ववर्ती, श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह, 17.2.1992 को निष्पादित साझेदारी विलेख में भागीदार नहीं थे। तदनुसार, उपर्युक्त अनुतोषों के लिए 1.8.1998 को वाद दायर किया गया।

5. बीरेंद्र कुमार सिंह (उत्तरदाता संख्या 2) को छोड़कर सभी उत्तरदाताओं के विरुद्ध मुकदमा एकपक्षीय रूप से चला, जो अधीनस्थ न्यायालय में उपस्थित हुए और लिखित बयान दाखिल करने के लिए समय देने हेतु आवेदन प्रस्तुत किया। उन्होंने 18.9.1998 को आदेश VII नियम 11 दंड प्रक्रिया संहिता के तहत वाद को खारिज करने हेतु भी आवेदन प्रस्तुत किया, जिसे 16.1.2002 को खारिज कर दिया गया। उपरोक्त आदेश की समीक्षा हेतु एक पुनरीक्षण याचिका दायर की गई, लेकिन उसे 29.4.2004 को खारिज कर दिया गया।

इसके बाद, उन्होंने 3.8.2004 को विवाद को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करने हेतु एक आवेदन प्रस्तुत किया, लेकिन बाद में उनके अधिवक्ता ने स्वीकार किया कि उक्त आवेदन विचारणीय नहीं था।

6. सुनील कुमार सिंह (उत्तरदाता संख्या 3), जो बीरेंद्र कुमार सिंह (उत्तरदाता संख्या 2) का पुत्र है, समन तामील होने के बावजूद उपस्थित नहीं हुआ और अधीनस्थ न्यायालय ने दिनांक 28.6.1999 के आदेश द्वारा उसके विरुद्ध एकपक्षीय कार्यवाही करने का निर्देश दिया। पाँच वर्ष से अधिक समय के बाद, उत्तरदाता संख्या 3 ने 14.10.2004 को दो आवेदन प्रस्तुत किए, जिनमें 28.6.1999 के उस आदेश को रद्द करने का अनुरोध किया गया था, जिसके द्वारा न्यायालय ने उसके विरुद्ध एकपक्षीय कार्यवाही करने का निर्देश दिया था और लिखित बयान दाखिल करने के लिए समय भी माँगा था। वादी द्वारा दी गई रियायत पर, उत्तरदाता संख्या 3 के विरुद्ध एकपक्षीय कार्यवाही करने का आदेश दिनांक 3.11.2004 को रद्द कर दिया गया। इसके बाद उत्तरदाता संख्या 3 ने मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 34 के तहत 25.11.2004 को एक आवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें प्रार्थना की गई कि 13.1.1989 के समझौते में मध्यस्थता खंड के मद्देनजर, मुकदमे की कार्यवाही रोक दी जाए और मामले को मध्यस्थता के लिए भेजा जाए। वादीगण ने 1.12.2004 को आवेदन पर आपत्ति दर्ज की। 16.12.2004 को, उत्तरदाता सं.3 ने अपनी दिनांक 25.11.2004 की पूर्व याचिका के समर्थन में एक अनुपूरक याचिका दायर की, जिसमें विवाद को मध्यस्थता के लिए भेजने की प्रार्थना दोहराई गई। तत्पश्चात, 28.2.2005 को, उत्तरदाता सं. 3 ने दिनांक 25.11.2004 और 16.12.2004 की याचिकाओं के अनुपूरक याचिका होने का दावा करते हुए एक याचिका दायर की, जिसमें यह तर्क दिया गया कि चूँकि वाद वर्ष 1998 का है, इसलिए किसी भी भ्रम की संभावना से बचने के लिए, उनकी पूर्व याचिकाओं को मध्यस्थता और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 8 के अंतर्गत दायर माना जाए। वादी अपीलकर्ताओं ने इस याचिका का विरोध किया। अधीनस्थ न्यायालय ने 17.3.2005 के आदेश द्वारा याचिका को मुख्यतः इस आधार पर खारिज कर दिया कि चूँकि श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह (वादी के हित-पूर्ववर्ती) 17.2.1992 को निष्पादित साझेदारी विलेख में पक्षकार नहीं थे, और चूँकि मुकदमे में मुख्य राहत यह थी कि 17.2.1992 का उक्त साझेदारी विलेख अवैध और शून्य था, जिसका निर्णय केवल व्यवहार न्यायालय द्वारा ही किया जा सकता था, इसलिए विवाद को मध्यस्थता के लिए नहीं भेजा जा सकता था। उत्तरदाता संख्या 3 ने उपरोक्त आदेश को एक दीवानी पुनरीक्षण याचिका दायर करके चुनौती दी, जिसे उच्च न्यायालय ने 4.8.2005 के आक्षेपित

आदेश द्वारा स्वीकार कर लिया। इस आधार पर कि श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह (पूर्ववर्ती - उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश के प्रभावी भाग में केवल इतना कहा गया है कि "निम्न न्यायालय ने आक्षेपित आदेश पारित करने में त्रुटि की है। तदनुसार, आक्षेपित आदेश को रद्द किया जाता है और यह दीवानी पुनरीक्षण स्वीकृत किया जाता है।" मध्यस्थता का संदर्भ देते हुए कोई विशिष्ट आदेश पारित नहीं किया गया।

7. अपीलकर्ताओं के विद्वान वरीय अधिवक्ता श्री रंजीत कुमार ने प्रस्तुत किया है कि मुकदमे में दावा की गई मुख्य राहत यह है कि यह घोषणा की जाए कि 17.2.1992 की पुनर्गठित साझेदारी विलेख अवैध, शून्य और अधिकार क्षेत्र से बाहर है क्योंकि श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह की ओर से साझेदारी से सेवानिवृत्त होने की कोई मंशा या इच्छा नहीं थी और वादी श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह के उत्तराधिकारी होने के नाते, अपने हिस्से की सीमा तक भागीदार के रूप में बने हुए माने जाएंगे। 1.4.1992 के बाद के सभी लेन-देन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के संबंध में दूसरी राहत पहली राहत पर निर्भर थी क्योंकि श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह या वादी को 17.2.1992 के विलेख में फर्म के साझेदार के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था और जब तक उक्त दस्तावेज़ को शून्य घोषित नहीं किया जाता, वे 13.1.1989 के पूर्व विलेख के आधार पर किसी भी अधिकार का दावा नहीं कर सकते थे। विद्वान अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया है कि श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह या वादी 17.2.1992 के विलेख में पक्षकार नहीं होने के कारण, 1996 के अधिनियम की धारा 8 मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर लागू नहीं हो सकती और उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय के आदेश को रद्द करने और उत्तरदाता संख्या 3 द्वारा दायर पुनरीक्षण याचिका को स्वीकार करने में स्पष्ट कानूनी त्रुटि की है। विद्वान अधिवक्ता ने यह भी तर्क दिया है कि मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, साझेदारी विलेख को अवैध या शून्य घोषित करने या उसे रद्द करने का अनुतोष केवल व्यवहार न्यायालय द्वारा ही दिया जा सकता है, किसी मध्यस्थ द्वारा नहीं। अपने तर्क के समर्थन में श्री रंजीत कुमार ने खरदाह कंपनी लिमिटेड बनाम रेमन एंड कंपनी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, एआईआर 1962 एससी 1810 में की गई निम्नलिखित टिप्पणियों का हवाला दिया है:

> इस बात पर विवाद नहीं किया जा सकता कि माल खरीदने के समझौते में मध्यस्थता खंड में आने वाले "इस अनुबंध से उत्पन्न या संबंधित" या "इस अनुबंध के संबंध में" या "परिणामस्वरूप" या "इस अनुबंध से संबंधित" जैसे शब्द समझौते की वैधता के बारे में विवाद को जन्म देने के लिए पर्याप्त हैं। लेकिन मध्यस्थता खंड

को तब लागू नहीं किया जा सकता जब वह समझौता, जिसका वह अभिन्न अंग है, अवैध माना जाता है। सिद्धांत रूप में यह माना जाना चाहिए कि जब कोई समझौता अमान्य होता है, तो उसमें निहित मध्यस्थता खंड सहित उसका प्रत्येक भाग भी अमान्य होना चाहिए।

(1942) एसी 356 और एआईआर 1959 एससी 1362 और आईएलआर (1948) 2 कलकत्ता 171 और एआईआर 1954 मद्रास 528 (531), एआईआर 1952 एससी 119, संदर्भ (कंडिका 4) पर भरोसा किया गया।

तदनुसार, ऐसा विवाद कि वह अनुबंध, जिसका मध्यस्थता खंड एक अभिन्न अंग है, अवैध और शून्य है, ऐसा विवाद नहीं है जिस पर मध्यस्थ मध्यस्थता खंड के अंतर्गत निर्णय देने के लिए सक्षम हैं, यद्यपि यह समझौते की वैधता के संबंध में विवाद को लेने के लिए पर्याप्त व्यापक है और परिणामस्वरूप अनुबंध का एक पक्षकार धारा 33 के अंतर्गत आवेदन जारी रखने का हकदार है, ताकि यह घोषित किया जा सके कि अनुबंध अवैध है और परिणामस्वरूप मध्यस्थों के समक्ष उसके अंतर्गत की गई कार्यवाही और उनके परिणामस्वरूप दिया गया निर्णय सभी शून्य हैं: एआईआर 1959 एससी 1357, पर भरोसा किया गया। (कंडिका 13)

विद्वान अधिवक्ता ने यह भी प्रस्तुत किया है कि वाद 1.8.1998 को दायर किया गया था और उत्तरदाता संख्या 2 मामले को मध्यस्थता के लिए भेजने के अपने प्रयास में विफल रहा, उसके बेटे सुनील कुमार सिंह (उत्तरदाता संख्या 3), जिसे 28.6.1999 को एकपक्षीय रूप से नियुक्त किया गया था, ने 5.11.2004 को मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 34 के तहत वाद पर रोक लगाने के लिए आवेदन प्रस्तुत किया और फिर 28.2.2005 को चुनौती के तहत आदेश को जन्म देने वाला आवेदन प्रस्तुत किया और ऐसा आवेदन अत्यधिक देरी के बाद प्रस्तुत किया गया था, इसलिए उच्च न्यायालय द्वारा उसकी प्रार्थना को स्वीकार करना पूरी तरह से अनुचित था। आगे यह भी आग्रह किया गया है कि 1996 के अधिनियम की धारा 8 की उप-धारा (2) का अनुपालन नहीं किया गया था क्योंकि उत्तरदाता संख्या 3 द्वारा प्रस्तुत आवेदन के साथ मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति संलग्न नहीं थी और इसलिए, इसे अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए था। उत्तरदाता के विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री एस.बी. सान्याल ने तर्क दिया है कि वादी वास्तव में खातों के प्रतिदान और साझेदारी व्यवसाय में अपने हिस्से का दावा कर रहे हैं, जिसके लिए वे अपना दावा दिनांक 13.1.1989 के साझेदारी विलेख पर आधारित कर रहे हैं, जिसमें श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह

एक पक्षकार थे और उक्त विलेख में मध्यस्थता का प्रावधान है। ऐसी परिस्थितियों में, उच्च न्यायालय ने विवाद को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करना उचित ही किया और वादी के विद्वान अधिवक्ता द्वारा उठाए गए तर्क में कोई दम नहीं है।

8. पक्षकारों के विद्वान अधिवक्ता द्वारा उठाए गए तर्क को समझने के लिए, 1996 अधिनियम की धारा 7 और 8 को रेखांकित करना सुविधाजनक होगा:

7. मध्यस्थता समझौता- (1) इस भाग में, 'मध्यस्थता करार' से अभिप्राय पक्षकारों द्वारा उन सभी या कुछ विवादों को मध्यस्थता के लिए प्रस्तुत करने का करार है जो किसी विवादित विधिक संबंध के संबंध में उनके बीच उत्पन्न हुए हैं या उत्पन्न हो सकते हैं, चाहे वे संविदात्मक हों या नहीं।

(2) मध्यस्थता समझौता किसी अनुबंध में मध्यस्थता खंड के रूप में या एक अलग समझौते के रूप में हो सकता है।

(3) मध्यस्थता समझौता लिखित रूप में होगा।

(4) मध्यस्थता समझौता लिखित होता है यदि यह निम्नलिखित में निहित है-

(क) पक्षकारों द्वारा हस्ताक्षरित दस्तावेज़;

(ख) पत्रों, टेलेक्स, टेलीग्राम या दूरसंचार के अन्य साधनों का आदान-प्रदान जो समझौते का अभिलेख प्रदान करते हैं; या

(ग) दावे और बचाव के बयानों का आदान-प्रदान जिसमें एक पक्ष द्वारा समझौते के अस्तित्व का दावा किया जाता है और दूसरे द्वारा इनकार नहीं किया जाता है।

(5) किसी अनुबंध में मध्यस्थता खंड वाले दस्तावेज़ का संदर्भ मध्यस्थता समझौता बनाता है यदि अनुबंध लिखित रूप में है और संदर्भ ऐसा है जो उस मध्यस्थता खंड को अनुबंध का हिस्सा बनाता है।

8. मध्यस्थता समझौते के तहत पक्षकारों को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करने की शक्ति। - (1) न्यायिक प्राधिकारी, जिसके समक्ष किसी मामले में कोई कार्रवाई लाई जाती है, जो मध्यस्थता समझौते का विषय है, यदि कोई पक्षकार विवाद के सार पर अपना पहला बयान प्रस्तुत करने के बाद ऐसा आवेदन करता है, तो वह पक्षकारों को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करेगा।

(2) उपधारा (1) में निर्दिष्ट आवेदन पर तब तक विचार नहीं किया जाएगा जब तक कि उसके साथ मूल मध्यस्थता करार या उसकी विधिवत् प्रमाणित प्रति संलग्न न हो।

(3) इस बात के होते हुए भी कि उपधारा (1) के अधीन आवेदन किया गया है और यह मुद्दा न्यायिक प्राधिकारी के समक्ष लंबित है, मध्यस्थता शुरू की जा सकती है या जारी रखी जा सकती है और मध्यस्थता पंचाट दिया जा सकता है।

1996 के अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (1) में कहा गया है कि यदि कोई पक्षकार विवाद के सार पर अपना पहला बयान प्रस्तुत करने के बाद ऐसा आवेदन करता है, तो न्यायिक प्राधिकारी, जिसके समक्ष कोई मामला मध्यस्थता समझौते का विषय है, पक्षों को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करेगा। इसलिए, धारा 8 के आवेदन के लिए, यह नितांत आवश्यक है कि पक्षों के बीच एक मध्यस्थता समझौता हो। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि न तो श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह और न ही वादी 17.2.1992 के साझेदारी विलेख के पक्षकार हैं। 1996 के अधिनियम की धारा 7 में परिभाषित ऐसा कोई दस्तावेज नहीं है जिसमें श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह या वादी के हस्ताक्षर हो सकते हैं। इसी प्रकार, 1996 अधिनियम की धारा 7 की उपधारा (4) के खंड (ख) या (ग) द्वारा परिकल्पित ऐसा कोई दस्तावेज़ उपलब्ध नहीं है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि राजेंद्र प्रसाद सिंह या वादीगण दिनांक 17.2.1992 के साझेदारी विलेख में निहित मध्यस्थता से संबंधित खंड के पक्षकार थे। यह भी एक स्वीकृत तथ्य है कि श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह दिनांक 17.2.1992 के उक्त साझेदारी विलेख के निष्पादन के समय जीवित थे। अतः, प्रथमदृष्टया, 1996 अधिनियम की धारा 8 दिनांक 17.2.1992 के उक्त साझेदारी विलेख से संबंधित किसी भी विवाद पर लागू नहीं होगी और इस मामले को मध्यस्थता के लिए नहीं भेजा जा सकता।

9. मुकदमे में वादी द्वारा दावा की गई पहली राहत यह घोषित करने का आदेश है कि 17.2.1992 का पुनर्गठित साझेदारी विलेख अवैध और शून्य था और श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह की साझेदारी से सेवानिवृत्त होने की कोई मंशा या इच्छा नहीं थी और इसके अलावा वादी, श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह के उत्तराधिकारी होने के नाते, अपने हिस्से की सीमा तक साझेदार बने हुए माने जाएंगे। यह सच है कि वादी ने खातों का प्रतिपादन और साझेदारी से लाभ में अपने हिस्से के साथ-साथ असुरक्षित ऋण पर ब्याज और खातों के प्रतिपादन पर असुरक्षित ऋण की मूल राशि की भी मांग की है। इस राहत को प्राप्त करने के लिए, वादी निस्संदेह

13.1.1989 के साझेदारी विलेख पर भरोसा करते हैं। हालाँकि, 1989 के इस विलेख पर भरोसा किया जा सकता है और यह वादी के दावे का आधार तभी बन सकता है जब 17.2.1992 के साझेदारी विलेख को शून्य घोषित किया गया हो। यदि 17.2.1992 का विलेख शून्य घोषित नहीं किया गया होता और वैध एवं प्रभावी रहता, तो वादीगण खातों के विवरण और लाभ में अपने हिस्से का दावा करने के लिए 13.1.1989 के पूर्व साझेदारी विलेख का सहारा नहीं ले सकते थे। इसलिए, साझेदारी व्यवसाय से लाभ में अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिए, वादी अपीलकर्ताओं के लिए 17.2.1992 के साझेदारी विलेख को अवैध, शून्य और निष्क्रिय घोषित करवाना अत्यंत आवश्यक था। इस तरह की घोषणा के लिए राहत केवल व्यवहार न्यायालय द्वारा ही दी जा सकती है, किसी मध्यस्थ द्वारा नहीं, क्योंकि वे या श्री राजेंद्र प्रसाद सिंह, जिनके माध्यम से वादी को स्वामित्व प्राप्त हुआ है, उक्त विलेख के पक्षकार नहीं हैं। इसलिए, अधीनस्थ न्यायालय ने सही ही माना था कि मामले को मध्यस्थता के लिए नहीं भेजा जा सकता और उच्च न्यायालय द्वारा इसके विपरीत लिया गया निर्णय स्पष्ट रूप से अवैध है।

10. 1996 के अधिनियम की धारा 8 की उप-धारा (2) के अनुसार, उप-धारा (1) में निर्दिष्ट आवेदन पर तब तक विचार नहीं किया जाएगा जब तक कि उसके साथ मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति संलग्न न हो। जैसा कि निर्णय के पूर्व भाग में पहले ही कहा जा चुका है, उत्तरदाता संख्या 3 ने 25 नवंबर 2004 को मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 34 के अंतर्गत स्वामित्व वाद की कार्यवाही पर रोक लगाने और मामले को मध्यस्थता के लिए संदर्भित करने हेतु एक आवेदन प्रस्तुत किया था। उन्होंने उक्त आवेदन के संबंध में 16 दिसंबर 2004 को एक पूरक याचिका दायर की। इसमें भी मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 34 का उल्लेख किया गया था। इसके बाद, उन्होंने 28.2.2005 को एक आवेदन दायर किया जिसमें प्रार्थना की गई कि चूंकि मध्यस्थता अधिनियम, 1940 निरस्त कर दिया गया है और मुकदमा 1998 का है, इसलिए किसी भी भ्रम से बचने के लिए, उनकी पिछली याचिकाओं को मध्यस्थता अधिनियम, 1996 की धारा 8 के तहत दायर किया गया माना जाए। इनमें से किसी भी याचिका के साथ 17.2.1992 का मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति संलग्न नहीं थी। वास्तव में, मध्यस्थता अधिनियम, 1940 की धारा 34 के तहत मूल मध्यस्थता समझौते या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति दाखिल करने की कोई आवश्यकता नहीं है और इस तरह उत्तरदाता संख्या 3 के लिए उपरोक्त दस्तावेज़ दाखिल करने का कोई अवसर नहीं था। 28.2.2005 को दायर तीसरी याचिका में निम्नलिखित प्रार्थना थी:

"अतः, यह प्रार्थना की जाती है कि माननीय न्यायमूर्ति कृपया दिनांक 25.11.04, 16.12.04 की याचिकाओं और वर्तमान याचिका को एक दूसरे के पूरक और भाग के रूप में लेने की कृपा करें, ताकि उपरोक्त मुकदमे की कार्यवाही पर रोक लगाने और/या इस मुकदमे के विषय-वस्तु को कवर करने वाले मध्यस्थता समझौते के मद्देनजर मध्यस्थता को संदर्भित करने के संबंध में प्रार्थना पर निर्णय लिया जा सके।"

दिनांक 28.2.2005 की याचिका में इस बात का कोई ज़िक्र नहीं है कि आवेदन के साथ मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति दाखिल की जा रही है। इसलिए, 1996 के अधिनियम की धारा 8 की उप-धारा (2) का स्पष्ट रूप से उल्लंघन हुआ, जो एक अनिवार्य प्रावधान है और विवाद को मध्यस्थता के लिए नहीं भेजा जा सकता था। उत्तरदाता के विद्वान अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया है कि साझेदारी विलेख की एक प्रति मामले के अभिलेख में थी। हालाँकि, अधिनियम की धारा 8 की उप-धारा (2) की आवश्यकता को पूरा करने के लिए, उत्तरदाता सं. 3 को 28.2.2005 को दायर याचिका के साथ मूल मध्यस्थता समझौता या उसकी विधिवत प्रमाणित प्रति दाखिल करनी चाहिए थी, जो उसने नहीं किया। इसलिए, इस मुकदमे में विवाद को मध्यस्थता के लिए भेजने का कोई आदेश पारित नहीं किया जा सकता था।

11. उपरोक्त चर्चाओं के मद्देनजर, अपील को लागत के साथ स्वीकार किया जाता है और दीवानी पुनरीक्षण संख्या 1010/2005 में उच्च न्यायालय द्वारा पारित दिनांक 4.8.2005 के आक्षेपित आदेश को रद्द किया जाता है।

अपील की अनुमति दी गई।

एन. जे.

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।